International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science (IJEMMASSS)
e-ISSN :2581-9925, Impact Factor (Cosmos: 7.555 & I2OR: 5.105), Volume 08, No. 01(II), January - March, 2026, pp. 281-286

भारतीय ज्ञान परंपरा में टिकाऊ विकास

डॉ. हंसा शर्मा*

सहायक आचार्य, राजनीति विज्ञान, बी.एन.डी.राजकीय कला महाविद्यालय, चिमनपुरा, शाहपुरा, जयपुर।

*Corresponding Author: hansaanshu8338@gmail.com

Citation: शर्मा, हंसा (2026). भारतीय ज्ञान परंपरा में टिकाऊ विकास. International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science, 08(01(II)), 281–286. https://doi.org/10.62823/IJEMMASSS/8.1(II).8882

सार

विज्ञान और तकनीक ने मानव जीवन को सुविधासंपन्न बनाया है किंतु इसके साथ–साथ पर्यावरणीय संकट, प्राकृतिक संसाधनों का अविवेकपूर्ण दोहन,, नैतिक मूल्यों का पतन तथा जीवन–शैली में असंतुलन जैसी गंभीर समस्याएँ भी पैदा हुई हैं। विकास का आधुनिक मॉडल मुख्यतः भौतिक समृद्धि और आर्थिक वृद्धि पर केंद्रित रहा है जिसके परिणामस्वरूप प्रकृति और मनुष्य के बीच सामंजस्य टूटता चला गया है। इसी संदर्भ में सतत विकास की अवधारणा का उदय हुआ जो विकास और संरक्षण के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास करती है। टिकाऊ विकास का मूल उद्देश्य केवल आर्थिक प्रगति नहीं अपितु ऐसा समग्र विकास है जिसमें पर्यावरण संरक्षण, सामाजिक न्याय और आर्थिक समानता का समन्वय हो।

शब्दकोशः *भारतीय ज्ञान परंपरा, विज्ञान, तकनीक, मानव जीवन, भौतिक समृद्धि।*

प्रस्तावना

भारतीय ज्ञान पंरपरा टिकाऊ विकास के नैतिक आधार को समझने और विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। भारतीय चिंतन परंपरा सदियों से मनुष्य, समाज और प्रकृति के बीच सह–अस्तित्व, संतुलन और नैतिक उत्तरदायित्व की बात करती आई है। यहाँ प्रकृति को केवल संसाधनों का भंडार नहीं माना गया, अपितु उसे जीवंत, पवित्र और पूज्य सत्ता के रूप में देखा गया है। 'ऋत' की वैदिक अवधारणा, पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष), अहिंसा, अपरिग्रह, करुणा, त्याग और लोकसंग्रह जैसे मूल्य मानव जीवन को मर्यादित और संतुलित बनाने की प्रेरणा देते हैं। ये मूल्य सतत विकास के नैतिक स्तंभों के रूप में देखे जा सकते हैं। आधुनिक उपभोक्तावादी संस्कृति असीमित इच्छाओं और संसाधनों के निरंतर उपभोग को प्रोत्साहित करती है जबकि भारतीय दर्शन इच्छाओं के संयम और आवश्यकताओं की मर्यादा पर बल देता है। ईशावास्य उपनिषद का यह संदेश कि "त्याग की भावना से भोग करो" सतत विकास की नैतिक चेतना का स्पष्ट उदाहरण है। इसी प्रकार जैन दर्शन का अपरिग्रह सिद्धांत और बौद्ध दर्शन का मध्यम मार्ग, उपभोग और संरक्षण के बीच संतुलन स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि भारतीय दर्शन में नैतिकता केवल व्यक्तिगत आचरण तक सीमित नहीं है, अपितु सामाजिक और वैश्विक स्तर पर कल्याण की भावना से जुड़ी हुई है। भगवद्गीता का 'लोकसंग्रह' का

* *Copyright © 2026 by Author's and Licensed by Inspira. This is an open access article distributed under the Creative Commons Attribution License which permits unrestricted use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work properly cited.*

सिद्धांत और गांधीजी का 'सर्वोदय' का विचार विकास को सामूहिक हित और सामाजिक न्याय से जोड़ता है। गांधीजी का यह कथन कि "पृथ्वी मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा कर सकती है पर उसके लालच को नहीं" आज के पर्यावरणीय संकट के संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक है। वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में जहाँ जलवायु परिवर्तन, जैव विविधता का ह्रास, प्रदूषण और संसाधनों की असमान उपलब्धता मानव अस्तित्व के लिए चुनौती बन चुकी है, भारतीय दर्शन से प्राप्त नैतिक मूल्यों की पुनर्व्याख्या और पुनर्स्थापना की आवश्यकता है।(1)

गीता का कर्मयोग और पर्यावरण संदेश

गीता भारतीय दर्शन का एक ऐसा महान ग्रंथ है जो केवल आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग नहीं दिखाता, अपितु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संतुलन, कर्तव्य और उत्तरदायित्व की शिक्षा देता है। आज जब संपूर्ण विश्व गंभीर पर्यावरण संकट से जूझ रहा है, तब गीता का कर्मयोग सिद्धांत मानव और प्रकृति के संबंधों को समझने तथा उन्हें संतुलित करने का एक सशक्त दार्शनिक आधार प्रदान करता है। पर्यावरण प्रदूषण, जलवायु परिवर्तन, प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन और जैव विविधता का विनाश आधुनिक मानव की स्वार्थपूर्ण और भोगवादी प्रवृत्ति का परिणाम है, जिसका समाधान कर्मयोग की निष्काम और कर्तव्यप्रधान अवधारणा में निहित है। कर्मयोग का मूल सिद्धांत यह है कि मनुष्य को अपने कर्म करने चाहिए, लेकिन उनके फल के प्रति आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। पर्यावरण संरक्षण भी तभी संभव है जब उसे लाभ या पुरस्कार की अपेक्षा से नहीं, बल्कि नैतिक कर्तव्य के रूप में अपनाया जाए।

भगवद्गीता में प्रकृति को केवल भोग की वस्तु नहीं, बल्कि जीवन का आधार माना गया है। गीता पंचमहाभूतोंकृपृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाशकृको समस्त सृष्टि का मूल तत्व स्वीकार करती है। मनुष्य इन्हीं तत्वों से बना है और इन्हीं पर आश्रित है। इस दृष्टि से पर्यावरण का विनाश वास्तव में आत्म–विनाश के समान है। कर्मयोग मनुष्य को यह बोध कराता है कि वह प्रकृति का स्वामी नहीं, बल्कि उसका संरक्षक है। यह दृष्टिकोण पर्यावरण चेतना को गहराई प्रदान करता है।

कर्मयोग का एक महत्वपूर्ण पक्ष संयम और त्याग है। गीता उपभोग की असीमित प्रवृत्ति का समर्थन नहीं करती, बल्कि संतुलित जीवन शैली की शिक्षा देती है। आज का पर्यावरण संकट उपभोक्तावाद की देन है, जहाँ आवश्यकता से अधिक संसाधनों का उपयोग किया जा रहा है। कर्मयोग व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं को सीमित करने और संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग करने की प्रेरणा देता है। (2)जब मनुष्य त्याग और संयम को जीवन का अंग बनाता है, तब पर्यावरण संरक्षण स्वतः संभव हो जाता है। कर्मयोग का सिद्धांत केवल व्यक्तिगत आचरण तक सीमित नहीं है, बल्कि सामाजिक और वैश्विक स्तर पर भी लागू होता है। श्रीकृष्ण "लोकसंग्रह" की बात करते हैं, अर्थात् समाज के कल्याण के लिए कर्म करना। पर्यावरण संरक्षण भी एक सामूहिक दायित्व है। आधुनिक पर्यावरण संकट यह स्पष्ट करता है कि केवल तकनीकी समाधान पर्याप्त नहीं हैं। जब तक मानव चेतना में परिवर्तन नहीं होगा, तब तक स्थायी समाधान संभव नहीं है। कर्मयोग मानव चेतना को आत्मकेंद्रितता से ऊपर उठाकर व्यापक दृष्टि प्रदान करता है।

व्यक्तिगत स्तर पर जल संरक्षण, वृक्षारोपण, ऊर्जा बचत और प्रदूषण नियंत्रण जैसे छोटे–छोटे कर्म भी यदि निष्काम भाव से किए जाएँ, तो उनका व्यापक प्रभाव पड़ता है। अंततः यह कहा जा सकता है कि भगवद्गीता का कर्मयोग सिद्धांत पर्यावरण चेतना को नैतिक, आध्यात्मिक और व्यावहारिक आधार प्रदान करता है। यह मनुष्य को अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक बनाकर प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्ण संबंध स्थापित करने की प्रेरणा देता है। आज के पर्यावरणीय संकट से मुक्ति के लिए गीता का कर्मयोग अत्यंत प्रासंगिक है, क्योंकि यह सिखाता है कि जब कर्म स्वार्थ से मुक्त होकर कर्तव्य और लोककल्याण से जुड़ जाता है, तभी मानव और प्रकृति दोनों का सतत कल्याण संभव होता है।

बौद्ध दर्शन में सतत विकास का बीज

बुद्ध का चिंतन मानव को प्रकृति से अलग नहीं मानता, बल्कि उसे उसी प्राकृतिक व्यवस्था का एक अंग स्वीकार करता है। बौद्ध दर्शन में पर्यावरण संरक्षण की अवधारणा किसी आधुनिक वैज्ञानिक या राजनीतिक चिंता के रूप में नहीं, बल्कि जीवन की करुणामय, अहिंसक और संतुलित दृष्टि के स्वाभाविक परिणाम के रूप में विकसित होती है। बुद्ध के उपदेशों में मनुष्य, जीव–जंतु, वन, जल, वायु और पृथ्वीकृसभी परस्पर निर्भर तत्वों के रूप में उपस्थित हैं। इसलिए बौद्ध दर्शन में पर्यावरण चेतना एक नैतिक, आध्यात्मिक और दार्शनिक चेतना है, न कि केवल संसाधनों के संरक्षण की तकनीकी नीति। बौद्ध दर्शन की आधारशिला 'प्रतित्यसमुत्पाद' का सिद्धांत है, जिसका अर्थ हैकृपरस्पर निर्भर उत्पत्ति। पंचशील में प्राणिहिंसा से विरति का नियम स्पष्ट रूप से पर्यावरणीय नैतिकता को स्थापित करता है। जब किसी जीव की हत्या या पीड़ा से बचने का संकल्प लिया जाता है, तो उसके आवास, भोजन और प्राकृतिक वातावरण की रक्षा भी अनिवार्य हो जाती है।

करुणा बौद्ध दर्शन का केंद्रीय मूल्य है। यह करुणा केवल मानव पीड़ा तक सीमित नहीं रहती, बल्कि सभी संवेदनशील प्राणियों के दुःख को समझने और कम करने की भावना है। पर्यावरणीय दृष्टि से करुणा का अर्थ हैकृप्रकृति के शोषण से उत्पन्न पीड़ा को समझना। प्रदूषित नदियाँ, नष्ट होते वन, मरते हुए जीव–जंतुकृये सभी करुणा की मांग करते हैं। बौद्ध दर्शन सिखाता है कि करुणा केवल भावना नहीं, बल्कि कर्म में व्यक्त होनी चाहिए। पर्यावरण संरक्षण के लिए किए गए प्रयासकृजैसे संसाधनों का संयमित उपयोग, प्रदूषण से बचाव और सतत जीवनशैलीकृकरुणा के ही व्यावहारिक रूप हैं।(3) आधुनिक पर्यावरण संकट का एक प्रमुख कारण उपभोक्तावाद है, जिसमें अनियंत्रित उपभोग और भौतिक लालसा प्रकृति के अंधाधुंध दोहन को जन्म देती है। मध्यम मार्ग मनुष्य को आवश्यकताओं और इच्छाओं के बीच भेद करना सिखाता है। यही तृष्णा पर्यावरण विनाश का भी मूल कारण है। आज के वैश्विक पर्यावरण संकट के संदर्भ में बौद्ध दर्शन न केवल नैतिक प्रेरणा देता है, बल्कि जीवन की ऐसी समग्र दृष्टि प्रदान करता है, जिसमें आंतरिक शांति और बाह्य संतुलन एक–दूसरे से अविभाज्य हैं। इस दृष्टि को अपनाकर ही मनुष्य पर्यावरण के साथ सामंजस्यपूर्ण और टिकाऊ भविष्य की ओर अग्रसर हो सकता है।(4)

जैन दर्शन में पर्यावरणीय नैतिकता

जैन दर्शन में पर्यावरणीय नैतिकता एक अत्यंत गहन, व्यावहारिक और समकालीन महत्व का विषय है, क्योंकि यह दर्शन मूलतः जीवन के प्रति करुणा, संयम और सह–अस्तित्व की भावना पर आधारित है। जैन दर्शन का मूल उद्देश्य आत्मशुद्धि और मोक्ष प्राप्ति है, किंतु इसकी साधना–पद्धति और नैतिक सिद्धांत केवल व्यक्तिगत आध्यात्मिक उन्नति तक सीमित न होकर सम्पूर्ण प्रकृति और पर्यावरण के संरक्षण से गहराई से जुड़े हुए हैं। आज जब पर्यावरणीय संकटकृजैसे जलवायु परिवर्तन, जैव–विविधता का क्षरण, प्रदूषण और प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहनकृमानव सभ्यता के लिए गंभीर चुनौती बन चुका है, तब जैन दर्शन में निहित पर्यावरणीय नैतिकता अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होती है।

जैन दर्शन का सबसे केंद्रीय सिद्धांत 'अहिंसा' है, जिसे केवल शारीरिक हिंसा से बचने तक सीमित नहीं किया गया, बल्कि विचार, वचन और कर्मकृतीनों स्तरों पर सभी जीवों को कष्ट न पहुँचाने की व्यापक नैतिक भावना के रूप में स्थापित किया गया है। जैन दृष्टि में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकृये सभी जीवयुक्त (सजीव) तत्व हैं। अतः पर्यावरण का कोई भी अंग मात्र संसाधन नहीं, बल्कि जीवात्मा से युक्त सत्ता है। अपरिग्रह का अभिप्राय हैकृआवश्यकता से अधिक संग्रह न करना। आधुनिक पर्यावरणीय संकट का मूल कारण उपभोक्तावाद, भोगवाद और संसाधनों के असीमित उपभोग की प्रवृत्ति है। जैन दर्शन सिखाता है कि इच्छाओं की सीमा तय करना ही सच्ची स्वतंत्रता है। जब व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को सीमित करता है, तो प्राकृतिक संसाधनों पर दबाव स्वतः कम हो जाता है। इस प्रकार अपरिग्रह पर्यावरण संरक्षण की एक प्रभावी नैतिक रणनीति बन जाता है, जो स्वेच्छा से संयम और संतुलन अपनाने पर बल देता है। जैन दर्शन में 'अनेकांतवाद'

भी पर्यावरणीय नैतिकता को गहराई प्रदान करता है। अनेकांतवाद का अर्थ हैकृवास्तविकता के अनेक पक्षों को स्वीकार करना। पर्यावरणीय समस्याएँ भी एकांगी दृष्टि से हल नहीं की जा सकतीं। केवल आर्थिक विकास, केवल तकनीकी समाधान या केवल नैतिक उपदेश पर्याप्त नहीं हैं। अनेकांतवाद हमें यह सिखाता है कि मानव, प्रकृति, जीव–जंतु, वनस्पति और पारिस्थितिक तंत्रकृसभी के दृष्टिकोणों को समझकर ही संतुलित समाधान संभव है। यह दृष्टिकोण अति–आत्मविश्वास और प्रकृति पर प्रभुत्व की मानसिकता को चुनौती देता है, जो पर्यावरणीय विनाश का एक बड़ा कारण है।(5)

स्मृति साहित्य में टिकाऊ विकास के आधार

स्मृति साहित्य भारतीय परंपरा में धर्म, समाज, अर्थ और नीति के संतुलित समन्वय का ऐसा स्रोत है, जिसमें मानवीय जीवन को प्रकृति, समाज और भावी पीढ़ियों के साथ जोड़कर देखने की सुदृढ़ दृष्टि मिलती है। यद्यपि "सतत विकास" एक आधुनिक अवधारणा के रूप में प्रस्तुत की जाती है, परंतु उसके मूल सिद्धांतकृ संसाधनों का संतुलित उपयोग, सामाजिक न्याय, पर्यावरण संरक्षण और दीर्घकालिक कल्याणकृस्मृति साहित्य में अत्यंत सुस्पष्ट रूप से विद्यमान हैं। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति, बृहस्पति स्मृति, विष्णु स्मृति आदि ग्रंथ केवल आचार–संहिता नहीं हैं, बल्कि वे ऐसी जीवन–दृष्टि प्रस्तुत करते हैं जो वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए भविष्य की सुरक्षा को भी सुनिश्चित करती है। स्मृति साहित्य में प्रकृति को केवल भोग की वस्तु नहीं, बल्कि पूज्य और संरक्षित सत्ता के रूप में देखा गया है। भूमि, जल, वन, पशु और वनस्पतिकृसभी को सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का अभिन्न अंग माना गया है। मनुस्मृति में भूमि को 'माता' कहा गया है और उसके अंधाधुंध शोषण को पाप माना गया है। जल स्रोतों को प्रदूषित करने, वनों को अनावश्यक रूप से काटने और पशुओं के प्रति क्रूरता करने पर दंड का विधान स्मृतियों में मिलता है। यह व्यवस्था इस बात का प्रमाण है कि स्मृति साहित्य पर्यावरण संरक्षण को केवल नैतिक उपदेश नहीं, बल्कि सामाजिक उत्तरदायित्व और विधिक दायित्व के रूप में भी स्थापित करता है, जो सतत विकास के पर्यावरणीय लक्ष्य का मूल आधार है। स्मृति साहित्य में आर्थिक गतिविधियों के लिए भी संतुलन और मर्यादा पर विशेष बल दिया गया है।(6) व्यापार, कृषि, पशुपालन और शिल्पकृइन सभी को धर्म के अधीन रखा गया है। मनुस्मृति और नारद स्मृति में व्यापारियों के लिए उचित मूल्य, ईमानदारी और उपभोक्ताओं के हित की रक्षा पर बल दिया गया है।

स्मृति साहित्य में सामाजिक न्याय का सिद्धांत भी सतत विकास के लक्ष्य का एक महत्वपूर्ण आधार प्रदान करता है। दान, सहायता और पुनर्वितरण की अवधारणा स्मृतियों में व्यापक रूप से वर्णित है। धनी वर्ग का यह कर्तव्य बताया गया है कि वह निर्धनों, दुर्बलों और असहायों की सहायता करे। अन्नदान, जलदान और आश्रयदान को श्रेष्ठ कर्म माना गया है। यह व्यवस्था संसाधनों के न्यायपूर्ण वितरण को प्रोत्साहित करती है, जो सतत विकास के सामाजिक लक्ष्यकृगरीबी उन्मूलन और समान अवसरकृसे सीधे जुड़ी हुई है। स्मृति साहित्य यह मानता है कि यदि समाज का एक वर्ग अभाव में जीता है, तो संपूर्ण समाज का विकास अधूरा है। स्मृति साहित्य में संयम और सीमित उपभोग पर विशेष बल दिया गया है। मनुस्मृति में कहा गया है कि भोग में अति विनाश का कारण बनती है। यह विचार आज के उपभोक्तावादी समाज के लिए अत्यंत प्रासंगिक है, जहाँ संसाधनों का असीमित दोहन पर्यावरणीय संकट को जन्म दे रहा है। स्मृति साहित्य व्यक्ति को यह सिखाता है कि वह अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं में अंतर करे तथा आवश्यकता के अनुसार ही उपभोग करे।(7) यह संयम सतत विकास की उस मूल भावना को पुष्ट करता है, जिसमें वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकताओं की पूर्ति इस प्रकार की जाए कि भविष्य की पीढ़ियों के अधिकार सुरक्षित रहें। स्मृति साहित्य में शिक्षा और संस्कार को भी विकास का अनिवार्य आधार माना गया है। केवल भौतिक समृद्धि को प्रगति नहीं माना गया, बल्कि नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास को भी समान महत्व दिया गया है।

राजा को 'धर्म का रक्षक' कहा गया है, जिसका कर्तव्य है कि वह प्रजा, प्रकृति और संसाधनों की रक्षा करे। कर व्यवस्था में भी संतुलन पर बल दिया गया हैकृअत्यधिक कर को प्रजा के शोषण के रूप में देखा गया है।(8) स्मृति साहित्य में यह स्पष्ट है कि शासन का उद्देश्य केवल राजस्व वृद्धि नहीं, बल्कि लोककल्याण है। यह

विचार आधुनिक सतत विकास के उस सिद्धांत से मेल खाता है, जिसमें सुशासन और जवाबदेह संस्थाओं को विकास का आधार माना गया है। स्मृति साहित्य में पीढ़ीगत उत्तरदायित्व की भावना भी स्पष्ट रूप से विद्यमान है। यज्ञ, वृक्षारोपण, जलाशयों का निर्माण और अन्न–संग्रह जैसी व्यवस्थाएँ केवल तत्काल लाभ के लिए नहीं, बल्कि दीर्घकालिक समाजिक और पर्यावरणीय हित के लिए की जाती थीं। यह दृष्टि इस बात को दर्शाती है कि स्मृति साहित्य वर्तमान और भविष्य के बीच संतुलन स्थापित करता है, जो सतत विकास की केंद्रीय अवधारणा है। अतः कहा जा सकता है कि स्मृति साहित्य में सतत विकास के लक्ष्य का एक सशक्त, नैतिक और सांस्कृतिक आधार विद्यमान है। धर्म, अर्थ, समाज और प्रकृति के संतुलन पर आधारित स्मृति साहित्य यह सिखाता है कि विकास का अर्थ केवल भौतिक उन्नति नहीं, बल्कि मानव, समाज और पर्यावरण के बीच सामंजस्यपूर्ण संबंध की स्थापना है। आधुनिक सतत विकास की अवधारणा वस्तुतः स्मृति साहित्य में निहित इन मूल्यों का ही समकालीन पुनर्पाठ है। यदि आज की विकास नीतियों और जीवन–शैली में स्मृति साहित्य की इस संतुलित दृष्टि को आत्मसात किया जाए, तो न केवल पर्यावरणीय संकट का समाधान संभव है, बल्कि एक न्यायपूर्ण, संवेदनशील और दीर्घकालिक समृद्ध समाज की स्थापना भी की जा सकती है।(9)

भारतीय दर्शन में सतत विकास के आधारों का समग्र विवेचन करने के पश्चात यह निष्कर्ष स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आता है कि सतत विकास कोई आधुनिक काल की मात्र आर्थिक या पर्यावरणीय अवधारणा नहीं है, बल्कि यह भारतीय चिंतन परंपरा में निहित एक जीवन–दृष्टि है, जो मनुष्य, प्रकृति और ब्रह्मांड के बीच संतुलित सहअस्तित्व पर आधारित है। भारतीय दर्शन का मूल उद्देश्य केवल भौतिक समृद्धि नहीं, बल्कि समग्र कल्याणकृव्यक्ति, समाज, प्रकृति और आने वाली पीढ़ियों के हितों की रक्षाकृहै। यह अवधारणा उपभोग की सीमा, संसाधनों के न्यायपूर्ण वितरण और लोभ–नियंत्रण की शिक्षा देती है। आधुनिक सतत विकास भी अति–उपभोग और संसाधनों के असमान दोहन को वैश्विक संकट का मूल कारण मानता है। इस दृष्टि से भारतीय दर्शन मनुष्य को उपभोक्ता नहीं, बल्कि प्रकृति का संरक्षक और सहभागी मानता है। जैन और बौद्ध दर्शन में अहिंसा को सर्वोच्च मूल्य माना गया है, जो न केवल मनुष्यों के प्रति, बल्कि समस्त जीव–जंतुओं और प्रकृति के प्रति भी संवेदनशील व्यवहार की मांग करता है। सतत विकास का उद्देश्य भी यही है कि विकास की प्रक्रिया में किसी भी रूप में जीवन का अनावश्यक विनाश न हो। पर्यावरण संरक्षण, जैव विविधता की रक्षा और मानवीय गरिमा का सम्मानकृये सभी अहिंसा के व्यावहारिक रूप हैं। भारतीय दर्शन की 'अपरिग्रह' की अवधारणा उपभोक्तावाद के विकल्प के रूप में उभरती है। अपरिग्रह का अर्थ है आवश्यकता से अधिक संचय न करना। आज वैश्विक स्तर पर पर्यावरणीय संकट, जलवायु परिवर्तन और संसाधनों की कमी का मुख्य कारण असीमित संग्रह और उपभोग की प्रवृत्ति है। यदि अपरिग्रह के सिद्धांत को व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में अपनाया जाए, तो संसाधनों का न्यायपूर्ण वितरण संभव है और सतत विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। भारतीय दर्शन में पुरुषार्थों की संकल्पनाकृधर्म, अर्थ, काम और मोक्षकृसंतुलित विकास का आदर्श मॉडल प्रस्तुत करती है। यहाँ अर्थ और काम को धर्म के अधीन रखा गया है, अर्थात आर्थिक और भौतिक सुख तभी स्वीकार्य हैं जब वे नैतिक मूल्यों और सामाजिक उत्तरदायित्व से जुड़े हों। सतत विकास भी इसी संतुलन की बात करता है, जहाँ आर्थिक प्रगति पर्यावरणीय संरक्षण और सामाजिक न्याय के साथ समन्वित हो। यह दृष्टि बताती है कि विकास एकांगी न होकर बहुआयामी होना चाहिए। (10) समग्र रूप से देखा जाए तो भारतीय दर्शन मनुष्य को प्रकृति से पृथक नहीं, बल्कि उसका अभिन्न अंग मानता है। यह दृष्टिकोण आधुनिक यांत्रिक और शोषणकारी विकास मॉडल से भिन्न है, जिसमें प्रकृति को केवल संसाधन के रूप में देखा जाता है। भारतीय दर्शन में पंचमहाभूतों की अवधारणा यह दर्शाती है कि मानव शरीर और प्रकृति एक ही तत्वों से बने हैं; अतः प्रकृति का विनाश अंततः मानव जीवन के विनाश का कारण बनता है। यह चेतना सतत विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है। अंततः यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन सतत विकास को केवल एक नीति या रणनीति के रूप में नहीं, बल्कि एक जीवन–शैली और मूल्य–आधारित दृष्टिकोण के रूप में प्रस्तुत करता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. बी. महादेवन 'भगवत गीता एण्ड सस्टेनेबल डेवलपमेंट' पेपरबक्श प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2019, पृ.सं–39–40.
2. क्रिस्टोफर के. चैपल "भगवत गीता और इकोलॉजी" मंजुल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2018, पृ.सं.–145.
3. डॉ. शशि प्रभा "इण्डियन इथॉज एण्ड वॉल्यूज" वैदिक प्रकाशन, देहरादून, प्रथम संस्करण–2011, पृ.सं.– 94.
4. पंकज जैन "धर्म एण्ड इकॉलोजी ऑफ हिन्दू कम्यूनिटीजः सस्टेंस एण्ड सस्टेनबलिटी' राउटलेज पब्लिशिंग लि. प्रकाशन, प्रथम संस्करण– 2009, पृ.सं.–188.
5. प्रो.ओ.पी.द्विवेदी "इण्डियाज एनवायरनमेंटल इथिक्स" ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, प्रथम संस्करण–1998. पृ.सं.–108.
6. डॉ.सौमित्र रॉय "इंटेरोगेटिव इको लिटरेचर एण्ड सस्टेनेबल डेवलपमेंट" राऊटलेज इण्डिया लि., प्रकाशन, प्रथम संस्करण– 1998. पृ.सं.–79–80.
7. विजयदेव नारायण शाही 'मनुष्य–प्रकृति संबंधों की वैचारिक पड़ताल' शोध सागर पत्रिका, अंक–19, जुलाई–2018, पृ.सं.–41.
8. रागिनी अवस्थी "भारतीय ज्ञान परंपरा में पर्यावरण विमर्श" मूल प्रश्न जर्नल, इश्यू–23, वोल्यूम–2, जनवरी–23, पृ.सं.–31.
9. डॉ.सुरेन्द्र कुमार 'सतत विकासः अवधारणा और आयाम' कमल प्रकाशन, बिजनौर(उ.प्र.), प्रथम संस्करण–2023, पृ.सं–89.
10. वैधनाथ सोलंकी 'सतत विकासःमुद्दे और चुनौतियाँ' गुल्लीबाबा पब्लिशिंग हाऊस प्रा.लि. नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2012. पृ.सं–107.

❑❑❑